# मई १९९५ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

## आत्म-कथन

## धन्य विमला!

अगस्त, १९६१ में जब उन्नीस वर्षीया विमला विवाहोपरांत राधेश्याम के साथ नवल-वधू के रूप में हमारे यहां रंगून आई तब वहां का सारा परिवार भगवती विपश्यना के धर्म-रस से पूर्णतया आप्लावित था। गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन की महती कृपा के कारण परिवार के आबाल-वृद्ध सभी सदस्य विपश्यी हो गये थे। समस्त परिवार विपश्यना ध्यान की सुखद शांति का जीवन जी रहा था।

बहू विमला कलकत्ते के एक सुशिक्षित, अध्यात्म-प्रेमी परिवार में जन्मी और पली थी। अतः उसमें अध्यात्म के बीज तो थे ही, परंतु उन दिनों के भारत में इस पुरातन विपश्यना विद्या का कोई नामलेवा भी नहीं बचा था। अतः उसे विपश्यना ध्यान की सारी बातें बिल्कुल नई सी लगीं। लगता था कि विमला इस विद्या को समझने, स्वीकारने और ग्रहण करने में काफी समय लेगी। परंतु चंद महीनों में ही उसने इस कल्याणी धर्मधारा में अवगाहन करने का निश्चय कर लिया और श्री गुरुदेव के चरणों में बैठ कर एक दस दिवसीय शिविर में भाग लिया तथा परिवार के धर्मरंग में पूर्णतया रँग गई। पहले शिविर में ही उसे विपश्यना रास आ गई। निश्चय ही, उसके पास अनेक जन्मों की पुण्य पारमी थी। इसीलिए विपश्यना धर्मगंगा में पानी में मछली की भांति अनायास तैरने लगी। परम पूज्य गुरुदेव उसकी प्रगति से बहुत प्रसन्न-संतुष्ट थे। बहू विमला विदुषी थी, बुद्धिशालिनी थी, विज्ञान की स्नातिका थी। उसके मानस पर दकियानूसी विचारों का कोई मोटा लेप भी नहीं था। अतः विपश्यना की परम वैज्ञानिक विद्या उसे अत्यंत बुद्धिसंगत लगी, युक्तिसंगत लगी, न्यायसंगत लगी; अतः प्रिय लगी। रंगून के विपश्यना केंद्र में गुरुदेव के धर्म-निर्देशन का लाभ लेते हुए उसने अनेक दस-दिवसीय शिविर लिये। घर में प्रातः, सायं साधना करती रही। रविवार को हम सबके साथ साधना केंद्र में गुरुदेव की मांगलिक छत्रछाया में ध्यान करने जाती रही। यों विपश्यना की धर्मगंगा में प्रवहमान हो, दिनोंदिन प्रगति करती गई।

सन् १९६५ में बर्मा की राजनीतिक और व्यावसायिक स्थितियों के बदलते हुए वातावरण के कारण वह राधेश्याम के साथ भारत आ बसी। उस समय भारत के परिवार में न कोई विपश्यी था और न विपश्यना का माहौल। पूरे भारत में कहीं विपश्यना का नामोनिशान नहीं था। सारे देश में दो हजार वर्षों की विपश्यना-शून्य तमिस्रा छायी हुई थी। यहां किसी से विपश्यना का कोई प्रकाश पा सके, संबल पा सके, मार्ग-निर्देशन पा सके, कहीं कोई विपश्यना के वट-वृक्ष की शीतल छाँह पा सके, इसकी कतई संभावना नहीं थी। ऐसी अवस्था में वह अपने सुदृढ़ मनोबल के आधार पर राधेश्याम के साथ विपश्यना के अभ्यास में जुटी रही। दोनों का नित्यप्रति सुबह-शाम का विपश्यना अभ्यास अक्षुण्ण बना रहा। साधना के व्यावहारिक अथवा सैद्धांतिक पक्ष को लेकर कभी कोई शंका उठती तो उसे रंगून से होते हुए पत्राचार द्वारा उसका समाधान मिल जाता।

जून, १९६९ में जब मैं विपश्यना-विद्या का अनमोल रत्न लेकर भारत आया, तब तक बर्मा के विपश्यी परिवार के कुछ अन्य सदस्य भी भारत आ गये थे। भारत का पहला विपश्यना शिविर श्री दयानंद अडूकिया के श्रम-सहयोग से बंबई में लगा। दूसरा शिविर तत्काल बाद मद्रास में लगा जो कि बर्मा से आये परिवार के इन सभी विपश्यी सदस्यों की प्रेरणा और उत्साह का परिणाम था। व्यवस्था की सफलता का श्रेय श्री वासुदेव जालान को था। यह शिविर पूरा करके मैं कुछ दिन राधेश्याम और विमला के साथ रहने के लिए ताड़पल्लिगुड़म चला गया।

पिछले एक महीने के भारत निवास से मन में एक विचार उमड़ने लगा था कि अपने तीन महीने के वीसा की अवधि पूरी कर मेरा बर्मा लौट जाना ही उचित है। आखिर बंबई में शिविर लगा कर मैं अपने माता-पिता के ऋण से मुक्त तो हो ही चुका था। परिवार के विपश्यी सदस्यों के लिए एक शिविर मद्रास में भी लग चुका था। अब और तरद्दुद में क्यों पड़ूं? परंतु दूसरी ओर परम पूज्य गुरुदेव की भविष्यवाणी थी कि पच्चीस सौ वर्ष पूरे हुए। अब विपश्यना के पुनर्जागरण का डंका बज चुका है। भारत में इस समय अनेक लोग विपुल पुण्य पारमी वाले जन्मे हुए हैं। वे इस काम में तुम्हारा खूब हाथ बँटाएंगे। राधेश्याम के साथ विमला का भी बड़ा आग्रह था कि मैं बर्मा लौटने का विचार त्याग दूं। मैं कुछ निर्णय नहीं कर पा रहा था। इसी दुविधा के बीच यह सूचना मिली कि श्री दयानंद तथा प्रथम शिविर में सम्मिलित हुए साधक-साधिकाओं की तीव्र अभिलाषा है कि बंबई में शीघ्र ही एक शिविर और लगे। उसका सारा प्रबंध वे मिल-जुलकर कर लेंगे। इसकी तारीखें निश्चित होते होते दिल्ली में भी एक शिविर लगने की संभावना प्रकट हुई। वहां बर्मा के मेरे परम मित्र और सहयोगी डॉ. ओमप्रकाशजी के परिवार के कुछ लोग बसे हुए थे। उनके अतिरिक्त साहित्य-क्षेत्र के मेरे मित्र श्री विष्णु प्रभाकर और श्री यशपाल जैन भी दिल्ली में ही थे। अतः मुझे विश्वास था कि वहां भी शिविर का प्रबंध सुचारु रूप से हो जाएगा। ताड़पल्लिगुड़म से बंबई के लिए रवाना होने के कुछ पहले सारनाथ से सूचना मिली कि भिक्षु धर्मरक्षितजी वहां एक शिविर लगवाया चाहते हैं। इन सूचनाओं के कारण मेरे मन में उत्साह जागा, प्रसन्नता जागी। मैं देख रहा था कि बहू विमला ने जब इन भावी शिविरों के आमंत्रण की बात सुनी तो उसका मन बांसों उछलने लगा। वह जरा भी नहीं चाहती थी कि मैं बर्मा वापिस लौट जाऊं। गुरुदेव की भविष्यवाणी का और उनके मांगलिक आशीर्वाद के सफलीभूत होने का उसे प्रबल विश्वास था।

बंबई और दिल्ली के शिविरों की सफलता में मुझे कोई संदेह नहीं था, परंतु सारनाथ के शिविर के बारे में मन में कशमकश चलने लगी। एक ओर तो वहां शिविर लग सकने के संवाद मात्र से मन में प्रसन्नता की हिलोर उठ रही थी, दूसरी ओर वहां के शिविर की

अर्थ-व्यवस्था को लेकर इस उत्साह पर पाला पड़ रहा था। कुछ वर्षों पूर्व जब परम पूज्य गुरुदेव ने भारत आकर विपश्यना द्वारा भारतवासियों की सेवा स्वयं करने का निर्णय किया था तब उनकी यह प्रबल धर्म कामना थी कि उनका प्रथम विपश्यना शिविर सारनाथ में ही लगे, जहां पच्चीस शताब्दियों पूर्व भगवान गोतम बुद्ध द्वारा प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ था। उस समय रंगून रहते हुए मैंने भिक्षु धर्मरक्षितजी से पत्राचार किया था और उन्हें लिखा था कि व्यवस्था का सारा दायित्व यदि वे वहन कर सकें तो अच्छा हो। प्रत्युत्तर में उनकी सहर्ष स्वीकृति आई थी। मैंने उन्हें यह भी लिखा था कि शिविर के आर्थिक व्यय के बारे में वे बिल्कुल निश्चिंत रहें। उसकी व्यवस्था हो जाएगी। हो सकता है, इस आश्वासन के आधार पर ही वे मुझे अब आमंत्रित कर रहे हों, परंतु अब तो सारी परिस्थिति ही बदल गई थी। मेरा मन इसी असमंजस में था कि उन्हें मैं कैसे लिखूं कि अब शिविर के आर्थिक पक्ष का प्रबंध भी उन्हें ही करना पड़ेगा। बंबई अथवा दिल्ली के शिविरों में गृहस्थ ही सम्मिलित होंगे। अतः शिविर संचालन का आर्थिक भार वे स्वयं उठा लेंगे। परंतु सारनाथ में तो अधिकतर भिक्षु और संन्यासी आदि ही सम्मिलित होंगे। वहां इस समस्या का समाधान कैसे होगा? भारत के एक अच्छे खासे सम्पन्न परिवार का एक प्रमुख सदस्य होते हुए मैं किसी के सामने अपनी आर्थिक असमर्थता का इजहार भी कैसे कर सकता था? मेरे सामने यह एक बड़ा धर्म संकट था।

परिवार के अविपश्यी सदस्यों से जो सहायता मिल रही थी, वह कम नहीं थी। वे मेरी यात्रा और भोजन आदि का सारा व्यय वहन कर रहे थे। मेरी सेवा के लिए एक निजी सहायक साथ लगा दिया था और उसका भी व्यय वहन कर रहे थे। यही क्या कम था? विपश्यना न करते हुए भी विपश्यना के काम में उनका इतना योगदान पर्याप्त ही था। यही उनके लिए बहुत बड़े पुण्य की बात थी और मेरे लिए अत्यंत संतोष की। इससे अधिक उनसे और क्या अपेक्षा करता? बर्मा से आये विपश्यी परिजनों की हालत मुझसे छिपी नहीं थी। अतः सोच रहा था कि सारनाथ में शिविर लगना कितना भी भावनात्मक संतोष क्यों न दे, इसे टालने में ही समझदारी है। तभी यकायक एक बात मन में बिजली की तरह कौंधी कि इस समस्या का समाधान ढूंढने वाला मैं कौन हुआ? धर्म जैसा चाहेगा, वैसा ही होगा। मैं तो मात्र माध्यम हूं। भारत में यदि विपश्यना का पुनर्जागरण और पुनर्स्थापन होना है और मेरे माध्यम से होना है तो अपने आप कोई न कोई मार्ग प्रशस्त होगा। मैं चिंतामुक्त हुआ, भारमुक्त हुआ; प्रशांत चित्त से बंबई की यात्रा के लिए तैयार हुआ। हैदराबाद जाने के लिए नीचे वाहन तैयार था। वहीं से बंबई जाना था। यकायक बहू विमला मुझे नमस्कार करने आई। नमस्कार करके उसने एक रूमाल जिसमें कुछ लपेटा हुआ था, मेरे पांवों पर रख दिया। उसमें से कुछ छुट्टे सिक्के बाहर गिर पड़े। भारत आने पर उसे घरखर्च के लिए हर महीने जो रकम मिलती थी, उसमें से इतने वर्षों में वह जो कुछ बचा पाई, वह सब इस रूमाल में बँधा था। उसने प्रसन्न चित्त से कहा, यह भावी शिविरों में काम आएगा। मैंने अपनी आर्थिक चिंता किसी के भी सामने प्रकट नहीं की थी। उसके मन में दान देने का यह स्फुरण स्वतः कैसे जागा? उसकी अपनी पुण्य पारमी का प्रभाव था या धर्म की महिमा? सामयिक होने के कारण सचमुच वह बड़ा अपूर्व दान था, थोड़ा होते हुए भी महर्घ दान था। मैं खूब जानता था कि उन दिनों परिवार के प्रत्येक घटक को मासिक खर्च उतना ही मिलता था जिससे कि उसकी दैनिक आवश्यकता की पूर्तिभर हो सके, परंतु एक कुशल और मितव्ययी गृहिणी होने के कारण उसने उसमें से जो बचाया, उसे चिल्लर समेत धर्म की सेवा में दान दे दिया। मेरा हृदय ही नहीं, आंखें भी छलछला उठीं। बहुत मना करने पर भी उसने यह दान मेरे सामान में बांध ही दिया। आज भी जब उस घटना को याद करता हूं तो हृदय छलछला उठता है। मुदिता के भावों से भर कर मन उसे साधुवाद देने लगता है।

कुछ समय पश्चात देवी इलायची और फिर रंगून में बसा हुआ बाकी सारा परिवार भी भारत आ गया। परन्तु भाव में अभाव का यह घुटनभरा वातावरण लगभग एक दशक तक चलता रहा। बड़ा आश्चर्य होता था। विपश्यी हों या अविपश्यी, परिवार के सारे सदस्य अत्यंत धर्मभीरु थे। फिर ऐसा क्यों हो रहा है? प्रारंभ में यह भ्रम रहा कि यह धर्मविरोधी शक्तियों की करतूत है। परंतु फिर समझ में आने लगा कि संभवतः धर्म को भी यही अभीष्ट था। यदि धर्माचार्य अपने धन के बल पर सद्धर्म की पुनर्स्थापना करता तो महत्त्व धन का होता, प्रज्ञा का नहीं, त्याग तप धीरज और सहिष्णुता का नहीं, मैत्री करुणा और सेवाभाव का नहीं। सिखाने वाले के धन के बल पर धर्म का बिरवा रोपा जाता तो वह कब का मुरझा गया होता। अतः ऐसी स्थिति पैदा होनी अनिवार्य थी। इसीलिए मैंने देखा कि जैसे ही भारत में विपश्यना के बिरवे की जड़ें जमने लगीं, घरेलू वातावरण आपने आप बदल गया। परिवार के सभी घटक अपना अपना स्वतंत्र व्यापार कर सकने लगे। कृत्रिम विपन्नता दूर हुई। विमला और राधेश्याम तथा देवी इलायची और पुत्रों ने विपश्यना की सेवा में यथेष्ट दान दिया और देते ही रहे हैं। इस दान का कोई अवमूल्यन नहीं है। परंतु उस प्रारंभिक काल के अभाव भरे दिनों में विपश्यना के नन्हें से बिरवे को बहू विमला ने जिस त्याग भरे दान से सींचा, उसके पुण्य की कोई तुलना नहीं हो सकती, उस पुण्य का कोई माप नहीं हो सकता, कोई तोल नहीं हो सकता।

* * *

बंबई, दिल्ली, सारनाथ और फिर कलकत्ते में सफलतापूर्वक शिविर लगा कर जब ताड़पल्लिगुड़म लौटा तो वहां फेक्टरी में ही एक शिविर का आयोजन किया गया। उस शिविर में जो सायंकालीन प्रवचन हुए, विमला ने वे टेप रिकार्ड कर लिये। पता नहीं वे टेप कहीं सुरक्षित भी हैं या नहीं, परंतु इस बेटी ने वे सारे प्रवचन टेप से सुन सुन कर लिख भी लिए। उसके हाथ की लिखी हुई वे दस-ग्यारह पोथियां आज भी सुरक्षित हैं और भविष्य में भारत में विपश्यना के पुनर्जन्म के इतिहास पर शोध करने वाले विद्यार्थियों के काम आ सकती हैं। प्रवचनों को टेप से सुन कर लिखने का काम बड़ा श्रमसाध्य होता है। परंतु वह कहती थी कि प्रवचन सुन-सुन कर लिखते हुए उसके मन में धर्म-संवेग जागता है, प्रीति-प्रमोद जागता है, पुलक-रोमांच जागता है। उसे यह लिखना बड़ा प्रिय लगता है, जरा भी भार नहीं लगता।

* * *

पिछले कुछ वर्षों से बहू विमला राधेश्याम के साथ सहायक आचार्या और फिर वरिष्ठ सहायक आचार्या के रूप में धर्मसेवा करती रही। शिविरों में साधिकाओं की सेवा वह अत्यंत वात्सल्यपूर्ण मैत्रीभाव से आप्लावित होकर करती थी। कई साधिकाओं ने इस बारे में उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

कुछ महीनों पूर्व ही राधेश्याम के साथ उसे धर्म-साहित्य के प्रकाशन की संयोजिका का दायित्व दिया गया। वह तुरंत पांच दिनों के सार्वजनीन प्रवचनों के संपादन में लग गई। १ अप्रेल को उसने इन प्रवचनों का "निर्मल धारा धर्म की" नाम से संपादन कर, धर्मसेवा का एक महत्त्वपूर्ण काम पूरा किया। दूसरे दिन याने २ अप्रेल को राधेश्याम के साथ पुराने साधकों के लिए एक दिन का शिविर लगाने गई। सुबह आनापान दिया, दोपहर में विपश्यना दी और उसके तुरंत बाद उसे कुछ अस्वस्थता महसूस हुई। उसने राधेश्याम से कहा कि वह उसे घर छोड़ आये। घर पहुँच कर उसने राधेश्याम को अत्यंत आग्रहपूर्वक पुनः शिविर-स्थल पर भेज दिया ताकि शिविर निर्विघ्न पूरा हो सके। वह अपनी अस्वस्थता का सामना स्वयं करने के लिए दृढ़ संकल्प थी। और उसने यही किया। सायंकाल राधेश्याम शिविर समापन कर घर लौटा तो वह चिरनिद्रा में सोयी हुई थी। उस रुग्ण अवस्था में मरणकाल तक भी उसने अपनी सेवा के लिए किसी को कष्ट नहीं दिया। एकांत अकेले रहते हुए उसने अपना अंतिम श्वास छोड़ा।

विमला को अस्थमा का पुराना रोग था। यह अनुमान किया जा सकता है कि अंत समय में उसका रोग प्रबल हुआ होगा। समीप ही फोन पड़ा था। राधेश्याम की धर्मसेवा में वह कोई बाधा उपस्थित नहीं किया चाहती थी, परंतु आसपास बसे हुए परिवार के अन्य लोगों को फोन करके बुला ही सकती थी। लेकिन लगता है कि विचलित होकर किसी को बुलाने की अपेक्षा विपश्यना की उस महान योगिनी ने जीवन के अंतिम क्षण तक संपूर्ण समता के साथ सजग रहकर प्राण छोड़ना ही श्रेयस्कर समझा।

शरीर में कोई पीड़ा जागे तो शांत चित्त से हथेलियों पर होने वाली संवेदनाओं को साक्षीभाव से देखना चाहिए और समता को पुष्ट करना चाहिए। विमला साधिकाओं को यही सिखाती थी। जो सिखाती थी, उसी का स्वयं पालन किया। निष्प्राण शरीर की दोनों हथेलियां उसी प्रकार खुली थीं जैसे कि ऐसी अवस्था में विपश्यना ध्यान करते हुए खुली रहती हैं। स्पष्ट है कि इसी प्रकार ध्यान करते हुए उसने समतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन किया। इसी कारण मृत चेहरे पर जो शांति और कांति प्रदर्शित हो रही थी वह दिव्य थी, असाधारण थी और उसकी निश्चित सद्गति की द्योतक थी।

महज अढाई महीने पूर्व परिवार में एक दुर्घटना हुई। मद्रास से लगभग ५० मील दूर कार के एक्सीडेंट से युवा पौत्र विनीत की शरीर-च्युति हुई। ऐसे प्रचंड आघात से शरीर-च्युति होने पर भी विनीत के चेहरे पर शांति और सौम्यता ही झलक रही थी। भय या पीड़ा का कहीं कोई रंचमात्र भी चिह्न नहीं था। विपश्यना अंत समय में सद्गति प्राप्त कराने के लिए सहायिका बन जाती है। इसी बात पर बल देते हुए देवी इलायची के साथ बहू विमला ने परिवार की अन्य महिलाओं को, विशेषकर विनीत की माता को, धर्म-धैर्यपूर्वक विलापविहीन वातावरण बनाये रखने में बड़ा सहयोग दिया था।

अब वह उसी शांति के साथ स्वयं मृत्यु की गोद में सोयी थी। अतः मंगल मैत्री से परिपूर्ण विलापविहीन वातावरण में ही उसका पार्थिव शरीर अग्नि को अर्पित किया गया। धर्म की अनवरत सेवा करते करते जिसने धर्म समन्वित होकर अपने प्राण छोड़े उसके लिए क्या रोदन? क्या क्रंदन? क्या विलाप?

"बाकी सारी जिंदगी धर्म हेतु लग जाय।
अंत समय तक धर्म की सेवा होती जाय॥"

उसने भी अपने जीवन का यही ध्येय बना लिया था। इस महामांगलिक ध्येय की पूर्ति करते हुए जिसे परम धन्यता प्राप्त हुई, उस विपश्यना योगिनी विमला के धर्ममय महाप्रयाण से सबके मन में धर्मसेवा की प्रेरणा ही जागे, उसके प्रति मंगल मैत्री ही जागे।

**मंगल मित्र,**
**स. ना. गो.**